

अथर्ववेदीय भेषज्य सूक्तों के संदर्भ में आयुर्वेदिक सिद्धांतों की वैदिक जड़ों का अध्ययन

डॉ कमलेश कमल

पीजीटी, प्रोजेक्ट गर्ल्स +2 स्कूल, बेनीपट्टी

सार

यह शोध-पत्र अथर्ववेदीय भेषज्य सूक्तों को केंद्र में रखकर उन वैचारिक तत्त्वों का पाठ-आधारित अध्ययन प्रस्तुत करता है जिन्हें बाद की आयुर्वेदिक परंपरा में व्यवस्थित "सिद्धांत" रूप में विकसित होते देखा जाता है। लेख का मुख्य लक्ष्य यह दिखाना है कि अथर्ववेद में रोग-निवारण केवल औषधि-प्रयोग नहीं, बल्कि मंत्र, ओषधि, अनुष्ठान, रक्षा-प्रार्थना, जल/अग्नि/तेज, तथा मनस्-शमन की संयुक्त रचना है; और यही संयुक्तता आगे चलकर आयुर्वेद में उपचार-व्यवस्था, स्वास्थ्य-लक्ष्य, तथा मन-देह-सम्बन्ध की अनेक धाराओं के लिए वैदिक आधारभूमि बनती है। चयनित मंत्रों के विश्लेषण द्वारा रोग-लक्षण, कारण-मीमांसा, औषधि-संकेत, तथा मानसिक विक्षोभ (दुष्प्र, मनःक्षोभ, उन्माद) के उपचारात्मक प्रतिमानों को स्पष्ट किया गया है। तुलनात्मक व्याख्या में अनावश्यक आधुनिकीकरण से बचते हुए, "जड़ें" शब्द का अर्थ ऐतिहासिक-वैचारिक पूर्वरूपों और उपचार-भाषा के प्रारूपों के रूप में ग्रहण किया गया है, न कि बाद की संहिताओं के सिद्धांतों का प्रत्यक्ष प्रत्यारोपण।

प्रमुख शब्द: अथर्ववेद, भेषज्य, भेषज, ओषधि, चिकित्सक, ज्वर, कृमि, यक्ष्मा, किलास, उन्माद, दुष्प्र, मनस्, आयु, बल, वर्चस्, वैदिक जड़ें, आयुर्वेद

भूमिका

आयुर्वेदिक परंपरा अपने परिपक्व रूप में रोग, निदान, पथ्य, औषधि, तथा चिकित्सा-नीति का सुव्यवस्थित शास्त्र प्रस्तुत करती है; परन्तु इस शास्त्र की वैचारिक पृष्ठभूमि एक ही क्षण में उत्पन्न नहीं होती। भारतीय चिकित्सा-इतिहास के मान्य विद्वानों ने यह रेखांकित किया है कि वैदिक साहित्य, विशेषतः अथर्ववेद, में रोग-निवारण से संबद्ध जो मंत्र, औषधि-संकेत, और अनुष्ठानिक उपचार-रचनाएँ उपलब्ध हैं, वे आगे चलकर शास्त्रीय चिकित्सा के विकास हेतु एक आरम्भिक वैचारिक भंडार निर्मित करती हैं (फ़िलियोज़ा, 1964, पृ. 31-66; मेयूलनबेल्ड, 1999, पृ. 105-168; ज़िस्क, 1991, पृ. 19-88)।

इस लेख की समस्या-विधि यह है कि "आयुर्वेद की वैदिक जड़ें" कहने पर प्रायः दो अतिवादी प्रवृत्तियाँ सामने आती हैं। एक ओर अथर्ववेद को केवल "मंत्र-आधारित उपचार" कहकर उसकी औषधि-भाषा, रोग-मानचित्र, और मनस्-शमन की अवधारणात्मकता को गौण कर दिया जाता है; दूसरी ओर, अथर्ववेद के मंत्रों में बाद की

संहिताओं के सिद्धांतों को यांत्रिक रूप से खोजकर अनुचित ऐतिहासिक-साम्य बैठा दिया जाता है (स्टाल, 1989, पृ. 92-150; विट्ज़ेल, 1997, पृ. 257-289; मेयूलनबेल्ड, 1999, पृ. 169-210)। अतः इस शोध का उद्देश्य "जड़ों" को पाठ-आधारित पूर्वरूपों के रूप में स्पष्ट करना है, अर्थात् वे उपचार-तत्त्व, जो अथर्ववेदीय भैषज्य सूक्तों में प्रत्यक्ष हैं और जिन्हें शास्त्रीय आयुर्वेद ने आगे चलकर अवधारणात्मक रूप से विकसित किया।

इस अध्ययन के शोध-प्रश्न तीन हैं। पहला, भैषज्य सूक्तों में "भेषज/ओषधि/चिकित्सक" की संरचना क्या है और वह किस प्रकार उपचार-व्यवस्था का प्रारूप देती है। दूसरा, दैहिक रोगों (ज्वर, कृमि, किलास, यक्ष्मा, अपचित) के संदर्भ में रोग-कारण और उपचार-क्रिया कैसे अभिव्यक्त होती है, और यह बाद की चिकित्सा-भाषा के किन प्रवाहों से तुलनीय है। तीसरा, मानसिक विक्षोभ (दुष्प्र, भय, मनःक्षोभ, उन्माद) के उपचार में "भेषज" और "मनस्" कैसे जुड़ते हैं, और यह मन-देह समन्वय की वैदिक जड़ें कैसे दिखाते हैं।

स्रोत-परिचय और पाठ-सीमा

अथर्ववेद की शौनकीय और पैप्पलाद, दो प्रमुख पाठ-परंपराएँ विद्यमान हैं, जिनमें भैषज्य सामग्री का वितरण और पाठ-रूप कभी-कभी भिन्न मिलता है (विट्ज़ेल, 1997, पृ. 260-275; लुबोत्स्की, 2002, पृ. 141-152)। इस लेख में मुख्य पाठ-संकेत शौनकीय परंपरा के काण्ड/सूक्त/मंत्र के अनुसार दिए गए हैं; जहाँ पैप्पलाद परंपरा का कोई विशेष मंत्र "चिकित्सक" की अवधारणा के लिए निर्णायक बनता है, वहाँ उसे पैप्पलाद-संहिता के संकेत सहित सहायक साक्ष्य के रूप में ग्रहण किया गया है (लुबोत्स्की, 2002, पृ. 141-152; ज़िस्क, 1991, पृ. 281-310)।

"भैषज्य/भेषज" की वैदिक संकल्पना को इस लेख में कार्यात्मक रूप से परिभाषित किया गया है। वे मंत्र/सूक्त जिनमें रोग-निवारण का स्पष्ट लक्ष्य, भेषज शब्द का प्रयोग, ओषधि/वनस्पति का आह्वान, या रोग का निष्कासन/शमन/रक्षा अभिप्रेत हो, उन्हें भैषज्य-सामग्री के अंतर्गत माना गया है (व्हिटनी, 1905, पृ. 201-240; ब्लूमफील्ड, 1899, पृ. 113-176)। यह दृष्टि इसलिए आवश्यक है कि अथर्ववेद में चिकित्सा-तत्त्व कभी रोग-विशेष के सूक्तों में, कभी रक्षा-प्रार्थनाओं में, और कभी ओषधि-सम्बद्ध स्तुतियों में बिखरे हुए हैं (ब्लूमफील्ड, 1897, पृ. 239-260; ज़िस्क, 1991, पृ. 89-117)।

पाठ-परंपरा/संस्करण की दृष्टि से अनुवाद-टीका के लिए व्हिटनी तथा ब्लूमफील्ड के मानक कार्य उपयोगी हैं, और वैदिक चिकित्सा के समालोचनात्मक अध्ययन के लिए ज़िस्क तथा मेयूलनबेल्ड की सामग्री इस लेख का प्रमुख आधार है (व्हिटनी, 1905, पृ. 35-38; ब्लूमफील्ड, 1897, पृ. 88-90; ज़िस्क, 1991, पृ. 19-55; मेयूलनबेल्ड, 1999, पृ. 105-132)।

सैद्धान्तिक ढाँचा

“वैदिक जड़ों” को इस लेख में तीन स्तरों पर समझा गया है। प्रथम स्तर उपचार-तंत्र का है, जहाँ मंत्र, ओषधि और अनुष्ठान एक संयुक्त उपचार-रचना बनाते हैं। यह संयुक्तता आगे चलकर आयुर्वेद में चिकित्सा के बहु-आयामी स्वरूप, औषधि-प्रधान उपचार के साथ-साथ आचार-सम्बद्ध, मनःशमन-सम्बद्ध और रक्षात्मक उपायों, के लिए पृष्ठभूमि निर्मित करती है (ज़िस्क, 1991, पृ. 231-280; फ़िलियोज़ा, 1964, पृ. 67-114)।

द्वितीय स्तर “स्वास्थ्य-लक्ष्य” का है। अथर्ववेद में रोग-निवारण का लक्ष्य केवल कष्ट-हटाना नहीं, बल्कि आयु, बल, वर्चस्व, तथा सामाजिक-कल्याण की पुनर्स्थापना भी है। यही व्यापक लक्ष्य बाद की चिकित्सा-दृष्टि में “स्वस्थ” को केवल रोग-रहित नहीं, बल्कि समर्थ, स्थिर और कल्याण-युक्त मानने के भाव को समर्थन देता है (मेयूलनबेल्ड, 1999, पृ. 133-168; ज़िस्क, 1991, पृ. 259-280)।

तृतीय स्तर मन-देह-सम्बन्ध का है। भैषज्य सूक्तों में मनस्/हृदय/चित्त के संकेत, दुष्प्र और उन्माद जैसे रूपों के साथ, रोग-निवारण को दैहिक-मानसिक निरंतरता में रखते हैं। यह निरंतरता आगे चलकर आयुर्वेद में मनस्, इन्द्रिय और शरीर की संयुक्त चिकित्सा-दृष्टि के लिए वैदिक पूर्व-आधार का कार्य करती है, यद्यपि उसे बाद की संहिताएँ अधिक व्यवस्थित शब्दावली में व्यक्त करती हैं।

भैषज्य सूक्तों में ओषधि-तत्त्व और औषधि-परिकल्पना: आयुर्वेदिक द्रव्य-चिन्तन का पूर्वरूप

अथर्ववेद में ओषधि केवल पदार्थ नहीं, उपचार-शक्ति का नाम भी है। ओषधि-सूक्त (काण्ड ८, सूक्त ७) में ओषधियों को बहु-नाम, बहु-गुण और “भेषजी” कहा गया है; यह वह भाषा है जो आगे चलकर द्रव्य-गुण-प्रभाव की शास्त्रीय शैली का बीज-रूप बनती है (ज़िस्क, 1991, पृ. 155-188; मेयूलनबेल्ड, 1999, पृ. 141-156)।

उद्धरण १ (अथर्ववेद-संहिता ८.७.८)

“अग्नेः घासः अपाम् गर्भः या पुनर्णवाः रोहन्ति ।
ध्रुवाः सहस्रनाम्नीः आभृताः भेषजीः सन्तु ॥८॥”

यहाँ ओषधियों को “पुनर्णवा” के रूप में पुनरुत्पादक, “ध्रुवा” के रूप में स्थिर-गुणवती, और “सहस्रनाम्नीः” के रूप में विविध-रूप/विविध-प्रयोग वाली कहा गया है। “भेषजीः” शब्द यह स्पष्ट करता है कि ओषधि का मूल्य उसके चिकित्सकीय कार्य में है। यह पूर्वरूप आयुर्वेद की उस द्रव्य-दृष्टि की ओर संकेत करता है जहाँ द्रव्य की पहचान अनेक नामों/रूपों से और उपचार-समर्थता उसके गुण-कार्य से होती है (व्हिटनी, 1905, पृ. 795-800; ज़िस्क, 1991, पृ. 171-180)।

ओषधियों की प्राकृतिक विविधता को यह सूक्त वर्गीकृत भाषा में भी प्रस्तुत करता है, पुष्प, प्रसूति, फल, आदि; यह वर्गीकरण आगे चलकर औषध-चयन, संग्रह और प्रयोग के

व्यावहारिक तर्क (युक्ति) के लिए आधार-भूमि बनता है (मेयूलनबेल्ड, 1999, पृ. 149-164)।

उद्धरण २ (अथर्ववेद-संहिता ८.७.२७)

“पुष्पवतीः प्रसूमतीः फलिनीरफला उत ।
अस्मै कृणोत भेषजं यथाऽसौ अरपाः असत् ॥२७॥”

यह मंत्र ओषधियों को उनके जैविक गुणों (पुष्प, फल) से पहचानता है और उनसे “भेषज” करने की अपेक्षा करता है। उपचार-लक्ष्य “अरपाः” अर्थात् निरुपद्रव/अरोग-स्थिति है। आयुर्वेदिक सिद्धांतों की वैदिक जड़ों के रूप में यह दिखाता है कि उपचार-लक्ष्य और औषधि-परिचय का संबंध केवल काव्य नहीं, व्यवहार-ज्ञान का संकेत भी है (ज़िस्क, 1991, पृ. 180-188; फ़िलियोज़ा, 1964, पृ. 91-97)।

चिकित्सक की वैदिक अवधारणा: आयुर्वेदिक “भिषक्” के पूर्व-संकेत

आयुर्वेद में चिकित्सक का आदर्श-रूप बाद में विस्तार से परिभाषित होता है, किन्तु वैदिक परंपरा में “भिषक्” का एक आरम्भिक संकेत ओषधि-संपदा, ज्ञान और रक्षा-कार्य के संयुक्त रूप में मिलता है। पैप्पलाद-संहिता में “चिकित्सक” की पहचान जिस प्रकार दी गई है, वह वैदिक चिकित्सा की सामाजिक भूमिका को स्पष्ट करती है (ज़िस्क, 1991, पृ. 281-310; मेयूलनबेल्ड, 1999, पृ. 105-132)।

उद्धरण ३ (अथर्ववेद पैप्पलाद-संहिता ११.६.९)

“यद् ओषधयः समग्मता राजानः समिताविव ।
विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहामिवचातनः ॥११.६.९॥”

यहाँ चिकित्सक वह है जिसके पास ओषधियाँ “समिताविव” अर्थात् सभा में राजाओं की भाँति संगठित/उपस्थित हैं। वह “विप्रः” है, अर्थात् ज्ञानवान, और “रक्षोहामिवचातनः” अर्थात् बाधक/उपद्रव-निवारक। यह सूत्र आगे चलकर आयुर्वेदिक चिकित्सा में चिकित्सक के ज्ञान, औषधि-परिचय और रोग-निवारण-कौशल की त्रिवेणी के लिए वैदिक पूर्वरूप बनता है (ज़िस्क, 1991, पृ. 295-304; फ़िलियोज़ा, 1964, पृ. 115-128)।

रोग-विशेष और उपचार-क्रिया: आयुर्वेदिक निदान-उपचार-तर्क के वैदिक आरम्भ

भेषज्य सूक्तों में रोग-विशेष का नामकरण, लक्षण-भाषा, और निष्कासन-क्रिया, ये सब मिलकर एक आरम्भिक “निदान-उपचार” तर्क बनाते हैं। यह तर्क आयुर्वेद में बाद में अधिक व्यवस्थित हो जाता है; पर उसकी वैदिक जड़ें यहाँ उपचार-भाषा के रूप में उपलब्ध हैं (मेयूलनबेल्ड, 1999, पृ. 133-168; ज़िस्क, 1991, पृ. 118-154)।

उद्धरण ४ (अथर्ववेद-संहिता १.२५.१-२, ज्वर-निवारण)

“तत्र ते आहुः परमं जनित्रं स नः संविद्वान् परि वृङ्ग्धि तक्मन् ।
... तद् एव ते अत्र भेषजं तेन नः परि वृङ्ग्धि तक्मन् ॥१-२॥”

यहाँ ज्वर/तक्मन् को संबोधित करके उसके “जनित्र” की बात आती है, और “परि वृङ्ग्धि” द्वारा निष्कासन का आग्रह है। “भेषजं” का संकेत उपचार-उपाय को स्पष्ट करता है। यह संरचना, रोग की पहचान, उसकी उत्पत्ति/कारण के प्रति संकेत, और निष्कासन-क्रिया, आगे चलकर आयुर्वेद में रोग-निदान तथा उपचार-उपक्रम की वैचारिक दिशा को पूर्वरूप रूप में समर्थन देती है (व्हिटनी, 1905, पृ. 35-38; ब्लूमफील्ड, 1897, पृ. 41-45; ज़िस्क, 1991, पृ. 122-130)।

उद्धरण ५ (अथर्ववेद-संहिता २.३१.१, कृमि-निवारण)

“इन्द्रस्य या मही दृषत् क्रिमेः विश्वस्य तर्हणी ।
तया पिनष्मि सं क्रिमीन् दृषदा खल्वामिव ॥१॥”

कृमि-निवारण में “पिनष्मि” (कुचलना/पीसना) रोग-निवारण की कार्य-भाषा है। रोग को शरीर में क्रियाशील सत्ता मानकर “दृषत्” जैसे द्रव्य-प्रतीक के माध्यम से नष्ट करने का संकल्प बनता है। आयुर्वेद में कृमि-चिकित्सा बाद में विशिष्ट रूप से व्यवस्थित होती है; किन्तु रोग को “नाश्य” मानकर उपक्रम-रचना करना यहाँ वैदिक पूर्वरूप के रूप में दिखता है (व्हिटनी, 1905, पृ. 90-92; ब्लूमफील्ड, 1897, पृ. 88-90; ज़िस्क, 1991, पृ. 156-160)।

उद्धरण ६ (अथर्ववेद-संहिता १.२४.२, त्वचा-रोग/किलास)

“आसुरी चक्रे प्रथमा इदं किलास-भेषजम् इदं किलास-नाशनम् ।
अनीनशत् किलासं सरूपाम् अकरत् त्वचम् ॥२॥”

यहाँ रोग का नाम (किलास), उपचार का नाम (किलास-भेषज), और उपचार का लक्ष्य (त्वचा का “सरूप” होना) एक साथ है। यह दैहिक रोग-निवारण में “लक्षण-परिवर्तन” और “स्वास्थ्य-पुनर्स्थापना” के संयुक्त लक्ष्य को दिखाता है, जो बाद की चिकित्सा-दृष्टि में भी मूल प्रेरणा के रूप में उपस्थित रहता है (ज़िस्क, 1991, पृ. 131-138; मेयूलनबेल्ड, 1999, पृ. 149-156)।

उद्धरण ७ (अथर्ववेद-संहिता ७.७६.२, अपचित-सम्बद्ध संकेत)

“याः ग्रैव्याः अथो याः उपपक्ष्याः अपचितः ।
... ताः ते अप हन्मि ॥२॥”

“अपचितः” जैसी अवस्थाएँ (ग्रन्थि/फुंसियाँ/गण्डमाला-सम्बद्ध) शरीर के स्थानिक रोग-मानचित्र को सूचित करती हैं, गले, पार्श्व, जोड़ आदि। “अप हन्मि” निष्कासन की क्रिया है। यह वैदिक जड़ें उस उपचार-तर्क के रूप में दिखाती है जिसमें रोग-स्थान की

पहचान और शमन-क्रिया का संयोग होता है (व्हिटनी, 1905, पृ. 438-441; ज़िस्क, 1991, पृ. 139-146)।

मानसिक शमन और मन-देह-सम्बन्ध: आयुर्वेदिक मनोचिकित्सा-धारा का वैदिक आधार

आयुर्वेद में मनस्, इन्द्रिय, और शरीर के संबंध की चिकित्सा-दृष्टि विकसित रूप में मिलती है; परन्तु अथर्ववेदीय भेषज्य सूक्तों में मानसिक विक्रोभ को भी रोग-निवारण के अंतर्गत लाने की स्पष्ट परंपरा है (मेयूलनबेल्ड, 1999, पृ. 191-210; ज़िस्क, 1991, पृ. 199-230)।

उद्धरण ८ (अथर्ववेद-संहिता ७.१००.१, दुष्वप्न-निवारण)

“पर्यावर्ते दुष्वप्यात् पापात् स्वप्यात् अभूत्याः ।
ब्रह्म अहम् अन्तरं कृण्वे परा स्वप्न-मुखाः शुचः ॥१॥”

यहाँ दुष्वप्न से उत्पन्न “शुचः” (क्लेश/शोक) को हटाने की क्रिया है। उपचार-माध्यम “ब्रह्म” अर्थात् वेदवाणी है, जो “अन्तरं” अर्थात् सुरक्षा-कवच बनती है। यह मानसिक रोग-निवारण की वैदिक जड़ को दिखाता है, जहाँ भाषा, विश्वास, और रक्षा-प्रार्थना मनोविक्रोभ के शमन में उपचारक भूमिका निभाते हैं (व्हिटनी, 1905, पृ. 515-516; ब्लूमफील्ड, 1897, पृ. 356-358; स्टाल, 1989, पृ. 151-164)।

उद्धरण ९ (अथर्ववेद-संहिता ४.९.५-६, रक्षा-द्रव्य और मानसिक संकट)

“न एनं प्राप्नोति शपथः न कृत्या न अभिशोचनम् ... ॥५॥
असन्मन्त्रात् दुष्वप्यात् ... दुर्हार्दात् ... तस्मान् नः परि पाहि नः ॥६॥”

इस मंत्र-युग्म में “अभिशोचनम्” (शोक), “दुष्वप्य” (दुष्वप्न), और “दुर्हार्द” (हृदय-सम्बद्ध क्लेश) मानसिक संकट के संकेत हैं, जिन्हें “परि पाहि” द्वारा रक्षात्मक शमन दिया जाता है। आयुर्वेद में बाद में मनस्-सम्बद्ध अवस्थाओं के साथ आचार/विश्वास/रक्षा-उपायों की चिकित्सा-भूमिका के लिए यह वैदिक पूर्व-संकेत बनता है, यद्यपि शास्त्रीय भाषा में उसका रूपांतरण अलग ढंग से होता है (ब्लूमफील्ड, 1897, पृ. 274-278; ज़िस्क, 1991, पृ. 209-218; फ़िलियोज़ा, 1964, पृ. 115-128)।

उद्धरण १० (अथर्ववेद-संहिता ६.१११.१-२, उन्माद/मनःक्षोभ-निवारण)

“अग्निः ते नि शमयतु यदि ते मनः उद्युतम् ।
विद्वान् भेषजम् कृणोमि यथा अनुन्मदितः अससि ॥२॥”

“मनः उद्युतम्” के शमन और “अनुन्मदितः” होने का लक्ष्य यह दिखाता है कि मानसिक विक्रोभ को “भेषज” द्वारा ठीक किए जाने योग्य माना गया है। यहाँ “भेषजम् कृणोमि” रोग-निवारण की उसी वैध भाषा में है जो दैहिक रोगों के सूक्तों में मिलती है। यह आयुर्वेदिक मनोचिकित्सा-धारा के लिए वैदिक जड़, अर्थात् मानसिक उपचार को चिकित्सा-क्षेत्र में स्वीकार, के रूप में पाठ-साक्ष्य देता है।

“उपचार-त्रय” की वैदिक रचना: मंत्र, औषधि, अनुष्ठान और आयुर्वेद की उपचार-व्यवस्था

भैषज्य सूक्तों में बार-बार यह प्रतिमान उभरता है कि रोग-निवारण मंत्र-भाषा (संबोधन, निष्कासन, शमन), औषधि-द्रव्य (भेषज, औषधि, मधु/क्षीर आदि), और अनुष्ठान/रक्षा-प्रार्थना (कवच, परि-रक्षा) के संयुक्त प्रयोग से सिद्ध होता है (ब्लूमफील्ड, 1899, पृ. 147-205; ज़िस्क, 1991, पृ. 231-258)। यही संयुक्तता आगे चलकर आयुर्वेद में चिकित्सा-उपायों की बहुधारा के लिए ऐतिहासिक पूर्वभूमि का कार्य करती है; यद्यपि शास्त्रीय संहिताएँ उसे क्रमबद्ध सिद्धांतों, औषध-कल्पों और आचार-नियमों में अधिक व्यवस्थित करती हैं (मेयूलनबेल्ड, 1999, पृ. 211-238; फ़िलियोज़ा, 1964, पृ. 141-160)।

ज्वर-निवारण में भेषज के साथ रोग-बहिर्गमन, कृमि-निवारण में दमन-क्रिया, किलास-निवारण में त्वचा की पुनर्स्थापना, और उन्माद-निवारण में मनःशमन, इन सभी में उपचार-भाषा की समानता यह बताती है कि अथर्ववेद में चिकित्सा का लक्ष्य “समग्र आरोग्य” है। यही समग्रता बाद की चिकित्सा-दृष्टि में स्वास्थ्य, बल, आयु और मानसिक स्थैर्य को संयुक्त लक्ष्य मानने के भाव का पूर्वरूप है (ज़िस्क, 1991, पृ. 259-280; मेयूलनबेल्ड, 1999, पृ. 133-168)।

दैहिक-मानसिक निरंतरता और “वैदिक जड़ें” की सीमा

इस लेख के निष्कर्षों का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि “जड़ें” का अर्थ “समान शब्दावली” नहीं, बल्कि “समान उपचार-समस्या” और “समान उपचार-तर्क” है। उदाहरणार्थ, आयुर्वेद में रोग-कारण, शरीर-तत्त्व, तथा निदान-क्रम का विस्तार मिलता है; पर अथर्ववेद में रोग-निवारण अधिकतर क्रिया-भाषा, द्रव्य-आह्वान और रक्षात्मक संरचना के माध्यम से प्रकट होता है। इसलिए सीधा निष्कर्ष निकालना कि अथर्ववेद में शास्त्रीय सिद्धांत उसी रूप में मौजूद हैं, ऐतिहासिक दृष्टि से अनुचित होगा (विट्ज़ेल, 1997, पृ. 280-289; स्टाल, 1989, पृ. 121-150; मेयूलनबेल्ड, 1999, पृ. 169-210)।

फिर भी, यह कहना पाठ-संगत है कि रोग-विशेष की पहचान, उपचार-लक्ष्य की स्पष्टता, औषधि-परिचय की बहुलता, चिकित्सक की सामाजिक-भूमिका, तथा मन-देह-सम्बन्ध की स्वीकृति, ये सब ऐसे तत्त्व हैं जिन पर आगे चलकर आयुर्वेदिक सिद्धांतों का शास्त्रीय भवन निर्मित होता है (फ़िलियोज़ा, 1964, पृ. 31-66; ज़िस्क, 1991, पृ. 281-310; मेयूलनबेल्ड, 1999, पृ. 105-132)।

चर्चा

समालोचनात्मक साहित्य में ज़िस्क ने वैदिक चिकित्सा को “धार्मिक उपचार” के रूप में समझाते हुए यह दिखाया है कि रोग-शमन की भाषा मंत्र और अनुष्ठान से अविच्छिन्न है, और औषधि-परंपरा उसी धार्मिक-सांस्कृतिक ढाँचे के भीतर अर्थवान होती है (ज़िस्क, 1991, पृ. 19-55; पृ. 231-258)। मेयूलनबेल्ड की चिकित्सा-इतिहास दृष्टि यह स्पष्ट

करती है कि वैदिक सामग्री को शास्त्रीय संहिताओं का "सीधा प्रारूप" नहीं मानना चाहिए, परन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि वैदिक साहित्य में रोग, उपचार और चिकित्सक के तत्त्व शास्त्रीय चिकित्सा के विकास में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि देते हैं (मेयूलनबेल्ड, 1999, पृ. 105-132; पृ. 211-238)। फ़िलियोज़ा ने भी वैदिक मंत्र-चिकित्सा और बाद की चिकित्सा-व्यवस्था के बीच निरंतरता और रूपांतरण, दोनों को साथ रखकर देखने की आवश्यकता बताई है (फ़िलियोज़ा, 1964, पृ. 67-114; पृ. 141-160)।

इस लेख की व्याख्या का योगदान यह है कि यह "वैदिक जड़ों" को केवल ऐतिहासिक कथन नहीं बनाता, बल्कि भैषज्य सूक्तों के भीतर मौजूद उपचार-तत्त्वों को मंत्र-पाठ के साथ स्थापित करता है। उद्धृत मंत्रों में ओषधि-वर्गीकरण, चिकित्सक-परिभाषा, रोग-निष्कासन-क्रियाएँ, और मनःशमन, इन सबका पाठ-आधारित विश्लेषण यह दिखाता है कि आयुर्वेदिक सिद्धांतों के कई आधार-भाव अथर्ववेद में "उपचार-भाषा" के रूप में उपस्थित हैं।

सीमाएँ भी स्पष्ट हैं। यह अध्ययन भैषज्य-सामग्री के चयनित केंद्रों पर आधारित है; अथर्ववेद में रोग-निवारण की सामग्री अधिक विस्तृत है और उससे व्यापक सांख्यिक पाठ-मानचित्रण अलग अध्ययन की माँग करता है (ब्लूमफील्ड, 1899, पृ. 206-260)। दूसरे, शौनकीय और पैप्पलाद पाठ-भेद के कारण कुछ स्थलों पर पाठ-रूपों की तुलना आवश्यक है, जिसे यहाँ सहायक प्रमाण तक सीमित रखा गया है (लुबोत्स्की, 2002, पृ. 141-152; विट्ज़ेल, 1997, पृ. 260-275)।

निष्कर्ष

अथर्ववेदीय भैषज्य सूक्तों के आधार पर यह निष्कर्ष पाठ-संगत रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है कि आयुर्वेदिक सिद्धांतों की वैदिक जड़ें मुख्यतः "उपचार-रचना" और "उपचार-लक्ष्य" के स्तर पर दिखाई देती हैं। प्रथम, ओषधि-सूक्तों में ओषधियों की बहुलता, वर्गीकरण और "भेषजी" स्वरूप, यह द्रव्य-चिन्तन के वैदिक पूर्वरूप हैं, जो आगे चलकर औषधि-सम्बद्ध सिद्धांतों के विकास हेतु आधार-भाषा देते हैं। द्वितीय, रोग-विशेष सूक्तों में रोग का नामकरण, कारण-आभास, स्थानिकता और निष्कासन-क्रिया, यह "निदान-उपचार" तर्क का आरम्भिक रूप है, जिसे शास्त्रीय आयुर्वेद अधिक व्यवस्थित करता है। तृतीय, दुष्प्र-निवारण और उन्माद-निवारण में मनस् के शमन हेतु "भेषज" की भाषा, यह मन-देह निरंतरता की वैदिक स्वीकृति है, जो आगे चलकर चिकित्सा में मानसिक पक्ष को स्थान देने वाली धाराओं के लिए ऐतिहासिक पृष्ठभूमि बनती है।

इस प्रकार, "वैदिक जड़ें" का अर्थ यहाँ यह नहीं कि शास्त्रीय आयुर्वेद के सिद्धांत अथर्ववेद में उसी रूप में मौजूद हैं, बल्कि यह कि भैषज्य सूक्तों में रोग-निवारण की जो संयुक्त संरचना, व्यापक स्वास्थ्य-लक्ष्य, और मन-देह समन्वय उपलब्ध है, वही

आयुर्वेदिक सिद्धांत-निर्माण की प्रारम्भिक वैचारिक आधारभूमि के रूप में समझी जा सकती है।

संदर्भ

1. ब्लूमफील्ड, मॉरिस. (1897). *अथर्ववेद के स्तोत्र: अनुवाद सहित (सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट, खंड 42)*. ऑक्सफोर्ड: क्लैरेंडन प्रेस।
2. ब्लूमफील्ड, मॉरिस. (1899). *अथर्ववेद: उसका चरित्र और भाषा (समालोचनात्मक अध्ययन)*. स्ट्रासबर्ग: टूब्रर।
3. फ़िलियोज़ा, जॉ. (1964). *प्राचीन भारतीय चिकित्सा का इतिहास: वैदिक से शास्त्रीय परंपरा तक*. पेरिस: दे बोक्कार्ड।
4. लुबोत्स्की, अलेक्ज़ान्दर. (2002). *अथर्ववेद पैपलाद परंपरा: पाठ, अनुवाद, टिप्पणी (काण्ड 5)*. लाइडन: लाइडन विश्वविद्यालय प्रकाशन।
5. मेयूलनबेल्ड, गेरिट यान. (1999). *भारतीय चिकित्सा-साहित्य का इतिहास (खंड 1)*. ग्रोनिंगन: एगेर्ट फॉरस्टन।
6. स्टाल, फ़्रिट्स. (1989). *वैदिक अनुष्ठान और अर्थ-निर्माण: मंत्र, क्रिया और संरचना*. बर्कले: कैलिफ़ोर्निया विश्वविद्यालय प्रकाशन।
7. व्हिटनी, विलियम ड्वाइट, एवं लैनमैन, चार्ल्स रॉकवेल (संपा.). (1904–1905). *अथर्ववेद-संहिता: समालोचनात्मक एवं व्याख्यात्मक अनुवाद-टीका (हार्वर्ड ओरिएंटल श्रृंखला)*. कैम्ब्रिज: हार्वर्ड विश्वविद्यालय।
8. विट्ज़ेल, माइकल. (1997). वैदिक संहिताओं की शाखाएँ और पाठ-भेद: अथर्ववेद का विशेष संदर्भ. *वैदिक भाषाशास्त्र जर्नल*, 9(3), 257–289।
9. ज़िस्क, केनेथ जी. (1991). *वेद में चिकित्सा: वैदिक उपचार-परंपरा का समालोचनात्मक अध्ययन*. दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास।